

August 2018

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

फ़रवरी २०१९



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन फ़रवरी २०१९

विषय-सूची

राष्ट्रीय शिक्षण पद्धति (७, ८)	श्रीअरविन्द	३
एक बालक को पत्र	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६ से	७
श्रीमाँ तथा उनके शरीर-धारण का उद्देश्य	श्रीअरविन्द	१५
मैं तुम्हारे साथ हूँ	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३ से	१९
श्रीमाँ की उपस्थिति	श्रीअरविन्द	२२
श्रीअरविन्द के उत्तर (७०)	श्रीअरविन्द	२३

राष्ट्रीय शिक्षण पद्धति

(७)

मानसिक क्षमताओं का प्रशिक्षण

मन के वे पहले गुण जिन्हें प्रशिक्षित करना है “अवलोकन” के वर्ग में गिने जा सकते हैं। हम कुछ चीज़ों की ओर ध्यान देते हैं और कुछ की उपेक्षा कर जाते हैं। और जिन चीज़ों की ओर ध्यान देते भी हैं उनका अवलोकन कम ही करते हैं। हम पूरे मनोयोग के बिना सरसरी नज़र डाल कर सामान्य बोध ही प्राप्त करते हैं। ज़्यादा नज़दीक से देखने पर आस-पास की चीज़ों से अलग उसके स्थान, रूप, स्वभाव का पता चलता है। अवलोकन की क्षमता को पूरी तरह एकाग्र किया जाये तो हमें तीनों मुख्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकने वाला पूरा ज्ञान मिल सकता है और अगर हम छू कर या चख कर देखें तो हमें उस वस्तु के बारे में, उसके स्वभाव और उसके गुणों के बारे में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हो सकने वाली पूरी जानकारी मिल जाती है। जो लोग छठी ज्ञानेन्द्रिय का भी उपयोग कर सकते हैं, जैसे कवि, चित्रकार, योगी, वे ऐसा बहुत कुछ इकट्ठा कर सकते हैं जो साधारण देखने वाले की आँख से छिपा रहता है। वैज्ञानिक अपनी खोज द्वारा ऐसे ब्योरों का पता लगा लेता है जो अधिक सूक्ष्म अवलोकन से ही जाने जा सकते हैं। ये अवलोकन की क्षमता के ही अंश हैं, यद्यपि स्पष्ट है कि इसका आधार है मनोयोग जो केवल गहरा भी हो सकता है और गहरे के साथ ही सूक्ष्म भी। यदि हमारे अन्दर सात्त्विक ग्रहणशीलता की आदत और एकाग्रतापूर्ण मनोयोग हो तो हम एक सरसरी नज़र में भी बहुत कुछ जान सकते हैं। अध्यापक को पहली चीज़ यही करनी चाहिये कि विद्यार्थी में ध्यान को एकाग्र करने की आदत डाले।

हम एक फूल का उदाहरण ले सकते हैं। उस पर यूँ ही एक सरसरी नज़र डाल कर उसकी गन्ध, उसके रूप-रंग के बारे में एक चलता-सा विचार बना लेने की जगह विद्यार्थी को फूल को जानने के लिए प्रोत्साहित किया जाये—वह अपने मन में उसके रंग की ठीक छटा, विशेष चमक, गन्ध की ठीक-ठीक तीव्रता, उसके रूप की रेखा और आकृति की ठीक छाप ले। स्पर्श फूल की बनावट और विशेषताओं के बारे में पूरी तरह जान ले। उसके बाद फूल के भाग अलग-अलग करके उनकी बनावट की उसी सावधानी के साथ परीक्षा की जाये। यह सब एक बोज़िल काम की तरह नहीं, बल्कि मनोरञ्जक चीज़ की तरह किया जाये। इसके लिए विद्यार्थी के अनुकूल इस प्रकार के प्रश्न तैयार किये जायें जो एक के बाद एक चीज़ के अवलोकन और अन्वेषण की ओर उसे आकर्षित करें, यहाँ तक कि वह पूरी चीज़ पर, बिना जाने ही, अधिकार पा ले।

स्मरण-शक्ति और मूल्यांकन के गुणों की इसके बाद ज़रूरत होगी और इन्हें भी उसी तरह बिना जाने बढ़ावा देना चाहिये। विद्यार्थी को कोई पाठ याद कराने के लिए बार-बार नहीं करवाना चाहिये। यह स्मृति-प्रशिक्षण का यान्त्रिक, बोझिल और नासमझी का तरीका है। अब पहले जैसा ही, पर उससे भिन्न फूल बच्चे के हाथ में दिया जाना चाहिये और उसे उसका अवलोकन उसी सावधानी के साथ करने की प्रेरणा देनी चाहिये जिसमें मुख्य उद्देश्य यह हो कि वह सादृश्य और भिन्नता दोनों पर ध्यान दे। इस प्रकार के अभ्यास को रोज़-रोज़ दोहराया जाये तो स्वभावतः स्मृति प्रशिक्षित हो जायेगी। इतना ही नहीं, तुलना और वैषम्य का अवलोकन करने वाले मानसिक केन्द्रों का भी विकास होगा। सीखने वाला आदत से ही चीज़ों की समानता और असमानता देखने लगेगा। इस क्षमता और अभ्यास के पूर्ण विकास को प्रोत्साहन देने के लिए अध्यापक को पूरा प्रयास करना चाहिये। इसी समय मन को वंश और जाति के नियमों का परिचय मिलने लगेगा। विकसनशील बाल-मानव का ठीक प्रकार अनुसरण और पथ-प्रदर्शन के द्वारा वैज्ञानिक अभ्यास, वैज्ञानिक वृत्ति और वैज्ञानिक जानकारी के मूलभूत तथ्यों का थोड़े ही समय में स्थायी उपकरण बन सकता है। फूलों, पत्तों, पौधों, पेड़ों का अवलोकन और तुलना करने से मन के ऊपर नामों और शुष्क सूचनाओं के भार के बिना ही वनस्पति-शास्त्र के ज्ञान की आधारशिला रख दी जायेगी। अस्वाभाविक आदतों से बिगड़े बिना, प्रकृति से आये हुए ताज़ा-स्वस्थ, मानव मन को इस प्रकार की रटाई से घृणा होती है। इसी प्रकार तारों के अवलोकन से ज्योतिष, मिट्टी-पत्थर आदि से भूगर्भ, कीड़े-मकोड़ों और जानवरों के अवलोकन से कृमि-शास्त्र और प्राणी-शास्त्र की नींव रखी जा सकती है। इसके कुछ बाद औपचारिक शिक्षण या मन पर किताबी ज्ञान या सूत्रों का भार डाले बिना केवल परीक्षणों के द्वारा रसायन-शास्त्र का आरम्भ हो सकता है। ऐसा कोई वैज्ञानिक विषय नहीं है जिस पर पूर्ण और स्वाभाविक अधिकार पाने की तैयारी बचपन में इस तरह भिन्न प्रकार की चीज़ों के और वर्गों के अवलोकन, तुलना, स्मरण और मूल्यांकन के द्वारा इन्द्रियों के प्रशिक्षण से न की जा सके। यह आसानी से किया जा सकता है और विद्यार्थी के मन में रुचि और तल्लीनता पैदा हो सकती है। एक बार रुचि पैदा हो जाये तो हम यह विश्वास कर सकते हैं कि बालक अपने खाली समय में पूरे उत्साह के साथ उसे आगे बढ़ायेगा। इससे बड़े होकर हर चीज़ कक्षा में ही करने की आवश्यकता न रहेगी।

स्वभावतः अन्य क्षमताओं के साथ मूल्यांकन और निर्णय की क्षमता भी प्रशिक्षित होती जायेगी। पग-पग पर बालक को यह निर्णय करना होगा कि रंग, ध्वनि, गन्ध आदि का कौन-सा भाव, मात्रा, मूल्य ठीक है और कौन-सा ग़लत। प्रायः निर्णय और प्रभेद बहुत ही सूक्ष्म और नाज़ुक होते हैं। शुरू में बहुत-सी भूलें होती हैं, पर सीखने वाले को यह बताना होगा कि अपने निर्णय पर विश्वास करे पर उसके फल के साथ चिपका न रहे। तुम देखोगे कि शीघ्र ही निर्णय की क्षमता की गयी माँगों का उत्तर देने लगेगी, अपने-आपको भूल-भ्रान्ति से शुद्ध करके बारीकरी के साथ ठीक-ठीक निर्णय करने लगेगी। सबसे अच्छा तरीका यह है कि बालक

को यह आदत डलवायी जाये कि वह अपने निर्णयों की तुलना औरों के निर्णयों से करे। जब वह भूल करे तो पहले उसे यह बतलाया जाये कि वह कहाँ तक ठीक था और वह भूल क्यों हुई। बाद में उसे ये चीज़ें अपने-आप देखने के लिए प्रोत्साहित किया जाये। वह जब-जब ठीक निकले तब-तब इस बात की ओर उसका ध्यान खींचा जाये ताकि उसके अन्दर विश्वास जागे।

तुलना करने और समानता-विषमता देखने से सादृश्य देखने का केन्द्र भी निश्चित रूप से जागेगा और विद्यार्थी सादृश्य देख कर साम्य का अनुमान करना सीखेगा। लेकिन इस क्षमता को प्रोत्साहन देने के साथ ही उसे इसकी सीमाओं और भूलों का भी परिचय करा देना चाहिये। इस प्रकार वह शुद्ध सादृश्य देखने का अभ्यस्त हो जायेगा जो ज्ञान-प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

सीधे तर्क को छोड़ कर एक और क्षमता है जिसे हम छोड़ आये हैं। और वह है कल्पना। यह बहुत आवश्यक और अनिवार्य यन्त्र है। इसे तीन कार्यों में बाँटा जा सकता है : १. मानसिक बिम्ब बनाना; २. विचारों और बिम्बों को बनाने की शक्ति या विद्यमान विचारों और बिम्बों के नये संयोजन; ३. वस्तुओं में आत्मा का सौन्दर्य, लालित्य, महानता, गुप्त संकेत, भाव और समस्त संसार में फैले हुए आध्यात्मिक जीवन का रसास्वादन। यह उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उन इन्द्रियों का प्रशिक्षण जो बाहरी चीज़ों को देखती और उनकी तुलना करती हैं। लेकिन इसके लिए ज़्यादा विस्तृत और विशद विवेचन की ज़रूरत है।

मानसिक क्षमताओं का उपयोग पहले वस्तुओं पर होना चाहिये और बाद में शब्दों और विचारों पर। भाषा के साथ हमारा व्यवहार बहुत ज़्यादा औपचारिक होता है और शब्दों के लिए सूक्ष्म संवेदन का अभाव बुद्धि को कुन्द कर देता है तथा उसकी क्रिया की सूक्ष्मता और उसके सत्य को सीमित कर देता है। पहले मन को शब्द का, उसके रूप, उसकी ध्वनि और उसके भाव का भली-भाँति अध्ययन करना चाहिये, फिर उस रूप की वैसी ही अन्य रूपों के साथ सादृश्य और विभेद की दृष्टि से तुलना करनी चाहिये। इससे व्याकरण की समझ की नींव रखी जायेगी, फिर समान शब्दों की सूक्ष्म अर्थ-छटा के भेद देखने होंगे, भिन्न-भिन्न प्रकार के वाक्यों की गठन और उनके लय को देखना होगा। इससे साहित्यिक क्षमता और वाक्य-रचना का आधार बनेगा। और यह सब अनौपचारिक रूप से, नियम पढ़ाये और रटाये बिना, बालक के अन्दर उत्सुकता जगा कर करना होगा। सच्चे ज्ञान की नींव अर्थ पर खड़ी होती है। जब वह अर्थ पर पूरा अधिकार पा लेता है तब वह अपनी जानकारी को औपचारिक रूप देना शुरू करता है।

(८)

तर्क-क्षमता का प्रशिक्षण

तर्क-बुद्धि का प्रशिक्षण उन क्षमताओं के प्रशिक्षण के बाद आता है जो उस सामग्री को

इकट्टा करती हैं जिसके आधार पर तार्किक क्षमता को काम करना होता है। इतना ही नहीं, विचारों के साथ सफलतापूर्वक व्यवहार कर सकने से पहले शब्दों के साथ व्यवहार करने की क्षमता का भी कुछ विकास होना चाहिये। प्रश्न यह है कि प्रारम्भिक काम हो जाने पर बालक को आधार-वाक्य लेकर ठीक तरह सोचना सिखाने की क्या विधि है? तर्क आधार-वाक्य या भूमिका के बिना नहीं चल सकता। वह या तो तथ्यों के आधार पर परिणाम का अनुमान करता है या पहले से बने हुए निर्णयों के आधार पर नये निर्णय करता है या एक तथ्य से दूसरे की ओर जाता है। वह अनुमान करता है, निगमन करता है या परिणाम निकालता है। मैं दिन-पर-दिन सूर्योदय देखता हूँ। इससे मैं यह अनुमान कर लेता हूँ कि अँधेरे के कुछ कम या ज़्यादा घण्टों के बाद सूर्योदय अवश्य होता है। मैं देख चुका हूँ कि जहाँ-जहाँ धुँआँ हो वहाँ-वहाँ आग ज़रूर होती है। मैंने तथ्यों को देख कर यह सामान्य नियम बना लिया है। मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि अमुक प्रकार का धुँआँ हो तो आग ज़रूर होगी, मैं यह अनुमान करता हूँ कि आग किसी आदमी ने लगायी होगी क्योंकि इन विशेष परिस्थितियों में और कोई कारण सम्भव नहीं दीखता। मैं यह परिणाम नहीं निकाल सकता क्योंकि आग हमेशा आदमी के लगाने से नहीं लगती। ज्वालामुखी से आग लग सकती है, बिजली गिरने या आस-पास किसी रगड़ के कारण चिनगारियों से भी आग लग सकती है।

ठीक-ठीक युक्ति करने के लिए ये तीन तत्त्व ज़रूरी हैं : पहला, मैं जिन तथ्यों या निष्पत्तियों से आरम्भ करूँ वे ठीक हों; दूसरे, मेरे पास पूरी और ठीक सामग्री हो; तीसरे, उन्हीं तथ्यों से प्राप्त हो सकने वाली अन्य सम्भव या असम्भव निष्पत्तियों का खण्डन। तर्क-बुद्धि की भूलें कुछ अंश में इन चीज़ों को ठीक रूप में प्राप्त करने में कठिनाई या लापरवाही या ढील से आती हैं। उससे भी बढ़ कर पूरे-पूरे सभी तथ्य पाने की कठिनाई से और सबसे बढ़ कर यथार्थ निष्कर्ष को छोड़ कर बाक़ी सभी सम्भव निष्कर्षों को हटाने से। गुरुत्वाकर्षण का तथ्य पूरी मज़बूती के साथ सिद्ध माना जाता है, लेकिन अगर एक भी ऐसा तथ्य निकल आये जो इसके साथ मेल नहीं खाता तो इस नियम की तथाकथित व्यापकता उलट-पुलटजायेगी। और ऐसे तथ्य मौजूद हैं। फिर भी सावधानी और कुशाग्रता से भूलों की सम्भावनाओं को बहुत कम किया जा सकता है।

सामान्य विधि है एक न्यायशास्त्र पढ़ा कर तर्क-बुद्धि को प्रशिक्षित करना। यह एक ऐसी प्रचलित भूल का नमूना है जिसमें किसी वस्तु की अपेक्षा उसके किताबी ज्ञान को अध्ययन का विषय बनाया जाता है। पहले मन को तर्क की अनुभूति और उसकी भूलें दिखानी चाहियें और उसे यह देखना सिखलाना चाहिये कि ये कैसे काम करती हैं। उसे उदाहरण से नियम की ओर चलाना चाहिये और नियमों के बढ़ते हुए सामञ्जस्य से इस विषय के विज्ञान की ओर जाना चाहिये। यह नहीं कि औपचारिक विज्ञान से, नियमों की ओर और नियमों से उदाहरणों की ओर चला जाये।

पहला पग यह है कि युवा मन में, कार्य-कारण देखते हुए, तथ्यों से निष्कर्ष निकालने में रस पैदा किया जाये। फिर उसे इसकी सफलता-विफलता और उनके कारणों के अध्ययन

की ओर प्रवृत्त किया जाये। इन चीजों की ओर ध्यान देना होगा : प्रारम्भिक सामग्री की भूल, अपर्याप्त तथ्यों से निष्कर्ष निकालने में जल्दबाज़ी, असम्भव से निष्कर्ष को लापरवाही से स्वीकार करना, ऐसे निष्कर्ष स्वीकार कर लेना जिनका समर्थन आधार-सामग्री से न होता हो, जिन पर सन्देह किया जा सकता हो, प्रमाद या पूर्वाग्रह के कारण अन्य व्याख्याओं या निष्कर्षों की ओर ध्यान देने से इन्कार करना। इस भाँति जहाँ तक हो सके, जहाँ तक मानव तर्क की भ्रमशीलता के बावजूद सम्भव हो, भूल और भ्रान्ति के अवसर कम किये जा सकते हैं। न्यायशास्त्र का अध्ययन बाद के लिए रखा जा सकता है जब विद्यार्थी को अपने सुपरिचित विषय को बस एक औपचारिक रूप देना होगा और इसमें अधिक समय न लगेगा।

—श्रीअरविन्द

एक बालक को पत्र

(ये पत्र आश्रम में प्रवेश पाने वाले पहले बालकों में से एक के नाम हैं। यह दस वर्ष की उम्र में आश्रम में आया था। युवावस्था से ही उसे संगीत, चित्रकला और काव्य में रस था। बाद में वह श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र में संगीत का अध्यापक बन गया। उसने बारह वर्ष की उम्र में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

तुम्हें जो काम करना हो उसे हमेशा आनन्द के साथ करो।

आनन्द से किया गया काम, अच्छी तरह किया गया काम होता है।

१४ मार्च १९३२

जब तुम्हारे अन्दर कोई कामना होती है तो तुम, जिस वस्तु की कामना की जाती है उसके शासन में रहते हो। वह तुम्हारे मन और तुम्हारे प्राण पर अधिकार कर लेती है और तुम उसके दास बन जाते हो। अगर तुम्हें भोजन के लिए लालच है तो तुम भोजन के स्वामी नहीं रहते, भोजन तुम्हारा स्वामी बन जाता है।

२२ अगस्त १९३२

मेरी प्यारी माँ,

आज जब मैं 'क' के पास अपने संगीत-पाठ के लिए गया तो मुझे बेचैनी हुई। मुझे यह भी लगा कि वह मुझसे बहुत खुश नहीं है। उस समय मेरे अन्दर एक दुर्भावना-सी थी। मुझे यह बेचैनी क्यों हुई? वहाँ से घर आकर थकान अनुभव हुई और कुछ भी करने की इच्छा नहीं थी। अब मुझे ऐसा लगता है कि जो अच्छी चीज़ें मेरे अन्दर विकसित हो रही थीं वे संगीत की कक्षा के बाद टूट गयीं, टुकड़े-टुकड़े हो गयीं। क्या यह सच है?

ये सभी चीज़ें—यह बेचैनी, यह थकान, प्रगति के टूटने का आभास—प्राण से आती हैं जो विद्रोह करता है क्योंकि उसकी कामनाओं और पसन्दों की सन्तुष्टि नहीं हुई। इन सबमें कोई सच्ची वास्तविकता नहीं है।

२ अप्रैल १९३३

हे माँ,

गड़बड़ अभी तक गायब नहीं हुई है। मैं पहले से भी ज़्यादा बुरी हालत में हूँ। मेरे मन में कुछ ख़राबी है। और मुझे हर जगह बुरा लगता है। बतलाइये मैं क्या करूँ।

किसी और चीज़ के बारे में सोचो। अपने-आपको व्यस्त रखो; कुछ न करते हुए अपने-आपको आलसी बना कर न रखो।

१८ दिसम्बर १९३३

प्यारी, प्यारी माँ,

मैं अपनी हर एक गतिविधि में आपका स्पर्श अनुभव करना चाहता हूँ, मैं आपकी उपस्थिति को हर जगह अनुभव करना चाहता हूँ।

माँ, मेरी प्रार्थना स्वीकार करो।

मैं हमेशा तुम्हारे साथ रहती हूँ मेरे बालक, इसलिए यह केवल सम्भव ही नहीं, बहुत आसान है कि मेरी उपस्थिति का सतत अनुभव किया जाये।

प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

६ मार्च १९३४

माँ, ओ माँ,

क्या मैंने कोई ग़लती की है? कृपया मेरी बात का उत्तर दीजिये। अगर मैंने कोई भूल की है तो मुझे क्षमा कीजिये। क्या आप मुझसे नाराज़ हैं? माँ, मुझे अपना बना लीजिये।

यह प्रश्न ही क्यों? तुमने कोई भूल नहीं की है और मैं तुमसे ज़रा भी नाराज़ नहीं हूँ। क्या आज रात को मैं बहुत गम्भीर दिखायी दे रही थी? अगर ऐसा है तो उसका कारण यह है कि मैं इस बेचारी दुनिया की बेवकूफी और अन्धेपन के बारे में सोच रही थी, लेकिन निश्चय ही उसमें तुमसे सम्बन्धित कोई बात न थी।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

९ मार्च १९३४

मेरी नन्हीं माँ,

कल मैंने आपसे कहा था कि 'हमने' एक लिफ़ाफ़े पर चित्रकारी की। इसमें 'हम'

का मतलब है मैं और आप। मुझे लगता है कि मैं काम नहीं करता इसलिए मैं 'हम' शब्द का प्रयोग करता हूँ। मैं आपका बालक हूँ।

यह सचमुच अच्छी बात है और मैं बहुत खुश हूँ। हाँ, मैं हमेशा तुम्हारे साथ रहती हूँ, और अधिक विशेष रूप से तब जब तुम अपनी चित्रकला या संगीत में लगे होते हो। क्या तुम्हें पता है कि तुम बहुत प्रगति कर रहे हो? मुझे वे लिफ़ाफ़े बहुत पसन्द हैं जिन्हें हम दोनों मिल कर चित्रित कर रहे हैं और यह एक और प्रमाण है इस बात का कि हम मिल कर कर रहे हैं, क्योंकि वे प्रायः हमेशा ठीक वैसे होते हैं जैसे मैं चाहती थी। आज सवेरे जो तुमने छोटा-सा लिफ़ाफ़ा भेजा है वह बहुत सुन्दर है और रंगों का चुनाव भी अत्युत्तम है।

प्रेम के साथ।

तुम्हारी नन्हीं माँ।

१५ मार्च १९३४

मेरी माँ,

मैं जगत् का गँवारू सुख नहीं चाहता। मुझे अपने हृदय में ले लो, मुझे अपनी भुजाओं में ले लो।

हाँ, मैं तुम्हें अपनी भुजाओं में लेती हूँ और अपने हृदय में झुलाती हूँ ताकि तुम सच्चा सुख और अमिश्रित शान्ति पाओ।

तुम्हारी नन्हीं माँ की ओर से प्रेम, जो सदा तुम्हारे साथ रहती हैं।

१५ मार्च १९३४

मेरी नन्हीं माँ,

शान्ति, शान्ति, मुझे अपनी अमिश्रित शान्ति प्रदान करो और अपने बारे में सचेतन बनाओ।

शान्ति तुम्हारे साथ रहे, मेरे बालक, निश्चिति और मेरे प्रेम पर विश्वास की शान्ति, जो तुम्हें कभी नहीं छोड़ती।

तुम्हारी माँ।

१६ मार्च १९३४

मेरी नन्हीं माँ,

यह कठिनाई आती ही क्यों है? क्या मैं अपने-आपको उसकी ओर खोलता हूँ या कोई और बात है? माँ, तुम्हारे इतने निकट आने के बाद भी यह क्यों आती है?

मैं तुम्हें जो लिखती या कहती हूँ उसके बारे में औरों को नहीं बतलाना चाहिये क्योंकि वे ईर्ष्या

करने लगते हैं और उनकी ईर्ष्या एक बुरा वातावरण बना देती है जो तुम्हारे ऊपर आ गिरता है और कठिनाई को तुम्हारे लिए वापस ले आता है। चूँकि तुम बोले थे इसलिए तुमने अपने-आपको खोल दिया और उसे ग्रहण कर लिया, शायद इस बारे में तुम्हारे अभिज्ञ हुए बिना ही।
तुम्हारी माँ की ओर से प्रेम।

१७ मार्च १९३४

मेरी प्यारी माँ,

मेरा हृदय तुम्हारे चरणों की ओर दौड़ना चाहता है और अपने-आपको तुम्हारे अन्दर खो देना चाहता है। मैं यही चाहता हूँ, लेकिन क्या मैंने यह कर लिया है? मैं तुम्हारे हृदय के निकट होना चाहता हूँ, मैं चाहता हूँ... पर क्या यह सम्भव है? मुझे पता नहीं।

मुझे शान्त करो, मुझे अपनी दिव्य उपस्थिति का रसास्वादन प्रदान करो।

हाँ, मेरे प्यारे बच्चे, यह पूरी तरह सम्भव है और चूँकि तुम सच्चाई के साथ यह चाहते हो इसलिए ऐसा हो जायेगा। तुम अपने-आपको हमेशा मेरे हृदय के निकट, मेरी भुजाओं में झूलते हुए अनुभव करोगे। और शान्ति तुम्हारी सत्ता को भर देगी और तुम्हें सशक्त और आनन्दपूर्ण बनायेगी।

तुम्हारी माँ की ओर से प्यार।

२९ मार्च १९३४

मधुर माँ,

मैं बल, संकल्प और ऊर्जा-विहीन अनुभव कर रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि मैं क्या करूँ। यह अवस्था जाननी चाहिये, लेकिन मैं नहीं जानता कि कैसे। मेरे अन्दर साहस नहीं है।

अपने-आपको कष्ट न दो। यह पिछले कुछ दिनों की बीमारी का परिणाम है—यह चला जायेगा—लेकिन तुम्हें अच्छी तरह और नियमित रूप से खाना चाहिये और अच्छी तरह सोना भी चाहिये। ख़याल रखो कि बहुत देर से सोने न जाओ।

बहुत प्रेम के साथ।

३० मार्च १९३४

मेरे प्यारे नन्हें बालक,

मैं तुम्हारा अच्छा-सा पत्र पाकर बहुत खुश हुई। तुम्हें यह जानना चाहिये कि मैं तुम्हारा भला और केवल तुम्हारा भला ही चाहती हूँ। मैं तुम्हें एक सशक्त और सचेतन आदमी बनाना चाहती हूँ, जो अपना स्वामी हो—यानी जो अपनी निम्न प्रकृति पर पूरा अधिकार रखता हो और अगर उसमें यह अभीप्सा हो तो सच्चा योगी बनने-योग्य हो। और जैसे-जैसे यह आदमी

अपनी सच्ची सत्ता को अधिकाधिक चरितार्थ करता जायेगा वैसे-वैसे वह मेरा अतिप्रिय बालक बनता जायेगा।

इसी कारण, अभी जो इच्छा प्रकट हो रही है वह निम्न प्रकृति की इच्छा है, मैं उसकी सनकों को सन्तुष्ट नहीं कर सकती क्योंकि यह बुरी-से-बुरी चीज़ होगी जो मैं तुम्हारे लिए कर सकती हूँ।

सच्चा प्रेम वह है जो, और सब छोड़ कर, अपने प्रेम-पात्र के लिए उसका उच्चतम मंगल चाहता है। यही प्रेम मेरे अन्दर तुम्हारे लिए है और मैं इसी को रखना चाहती हूँ।

तुम्हारी माँ।

६ अप्रैल १९३४

मेरी मधुर माँ,

शान्ति सदा-सर्वदा मेरे साथ रहे।

शान्ति, शान्ति तुम्हारे हृदय में और तुम्हारे प्राण में।

हाँ, शान्ति, ज्योति, शक्ति और आनन्द हमेशा तुम्हारे साथ उस चेतना में हैं जो निरन्तर तुम्हारे पास रहती है और मेरे प्रेम की शुभ-चिन्ता को लाती है।

९ अप्रैल १९३४

मेरे प्रिय बालक,

हाँ, तुम 'प्रकाश' के बालक हो और हमेशा अधिकाधिक रहोगे। तुम्हारे अन्दर से किसी भी अन्धकार को प्रकट न होने दिया जाये।

१२ अप्रैल १९३४

प्यारे नन्हें बालक,

चित्र अच्छे हैं। वे जापानी चित्रों जैसे हैं। रही बात उस 'लोक' की जहाँ से वे आते हैं, तो निश्चय ही वे सूक्ष्म भौतिक से आते हैं जहाँ धरती पर चरितार्थ सभी कलाकृतियों और उनकी अवधारणाओं की स्मृति सञ्चित है।

बहुत स्नेह के साथ तुम्हारी।

१६ अप्रैल १९३४

माँ,

मैं शक्तिहीन जीवन नहीं चाहता।

बहुत अच्छा—तब तुम्हें शक्ति अर्जित करनी चाहिये, और आख़िर यह इतना कठिन है भी नहीं,

खास तौर पर यहाँ जहाँ तुम मानों शक्ति के सागर में नहाते हो। तुम्हें केवल खुलना और ग्रहण करना है।

तुम्हारी माँ की ओर से प्रेम।

१७ अप्रैल १९३४

मधुर माँ,

मुझे शान्ति, ऊर्जा और प्रेरणा दो।

शाश्वत स्रोत से पीना सीखो; उसमें सब कुछ है।

मेरे प्रेम सहित।

२१ अप्रैल १९३४

मेरे बालक, मेरे बालक, इतना अधिक दुःख क्यों? क्या इसलिए कि किसी ने, जिससे तुमने मैत्री की थी, उसने ऐसे कारणों से अपने-आपको खींच लिया है जिन्हें वह बहुत गम्भीर समझता है?

लेकिन क्या अब भी तुम्हें अपनी माँ की मैत्री प्राप्त नहीं है? और साथ ही उसका समस्त प्रेम, तुम्हारे लिए उसकी समस्त शुभ-चिन्ता?

नहीं, सब कुछ दुःखमय और अन्धकारपूर्ण नहीं है, न तो पेड़-पौधे, न आकाश और न यह सागर ही। हर चीज़ दिव्य उपस्थिति से भरी हुई है और उसके बारे में तुम्हें बतलाने में बहुत खुश होगी।

अपने बचकाने अवसाद को झाड़ू फेंको और अपने हृदय में उदित होते हुए सूर्य का चिन्तन करो!

२८ अप्रैल १९३४

माँ, आप मुझसे ज़रा भी प्रेम नहीं करतीं, क्या यही तरीका है अपने बालक से प्रेम करने का?

मेरे बालक,

निश्चय ही मैं तुमसे उस तरह प्रेम नहीं करती जिसे तुम प्रेम समझते हो और मैं देख सकती हूँ कि चीज़ अन्यथा कैसे हो सकती है।

पहले तुम्हें दिव्य चेतना का अनुभव करना होगा—उसके बाद ही तुम जान सकोगे कि सच्चा प्रेम क्या है।

३० अप्रैल १९३४

मेरी मधुर माँ,

मानव-सम्पर्क ने मुझे बहुत हानि पहुँचायी है, लेकिन मैं इस आदत को नहीं छोड़ सकता। मैंने सभी मानव-सम्पर्कों को समाप्त करने के लिए बहुत प्रयास किये हैं, लेकिन मैं कर नहीं पाता। मुझे पता नहीं कि क्या करना चाहिये।

माँ, मैं केवल तुम्हारी ओर ही खुलूँ और किसी की ओर नहीं, सदा, सर्वदा। मुझे धीरज प्रदान करो।

मुझे नहीं लगता कि तुम्हारे लिए पूरी तरह निवृत्त होकर और केवल अपनी ही ओर मुड़ा हुआ जीवन अच्छा होगा। सारी बात तो यह है कि अपने लिए अच्छे सम्बन्ध चुनो। केवल ऐसे लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करो जिनका सम्पर्क **मेरी उपस्थिति को ढक नहीं देता**। यह एक ऐसी महत्वपूर्ण बात है जिसे कभी भूलना न चाहिये। वह सब जो तुम्हें विचार और भावना में मुझसे दूर ले जाता है, बुरा है। वह सब जो तुम्हें मेरे अधिक निकट लाता है, मेरी उपस्थिति का अनुभव और आनन्द देता है, अच्छा है। तुम्हें वस्तुओं को इस नियम के प्रकाश में जाँचना चाहिये। तुम देखोगे कि यह बहुत-सी भूलों से तुम्हारी रक्षा करेगा।

मैं तुम्हें बहुत-सा धीरज और अपना समस्त प्रेम भेजती हूँ।

२ मई १९३४

मेरी मधुर माँ,

तुम सब जगह हो, मेरे अन्दर हमेशा बनी रहो।

मेरे प्यारे बालक,

तुम हमेशा मेरी भुजाओं में रहते हो और मैं तुम्हें सुख-सुविधा देने, तुम्हारी रक्षा करने, तुम्हें बल और प्रकाश देने के लिए अपने हृदय के पास रखती हूँ। मैं तुम्हें कभी एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ती और मुझे विश्वास है कि अगर तुम ज़रा सावधान रहो तो तुम स्पष्ट रूप से अपने कन्धों के चारों ओर मेरी भुजाओं की ऊष्मा का अनुभव कर सकोगे।

तुम्हारी माँ।

४ मई १९३४

मेरे प्यारे बालक,

मुझे लगता है कि तुम प्रायः दुःखी और उदास रहते हो क्योंकि तुम्हारी स्नायुएँ बहुत मज़बूत नहीं हैं। तुम्हें ज़्यादा खाना चाहिये, अधिक सोना चाहिये और खुली हवा में कसरत करनी चाहिये, इत्यादि।

सस्नेह।

९ मई १९३४

शान्ति, शान्ति मेरे नन्हें बालक, आन्तरिक नीरवता और बाह्य स्थिरता की मधुर शान्ति। वह सदा तुम्हारे साथ रहे।

सस्नेह।

१४ मई १९३४

देखो मेरे बालक, दुर्भाग्य की बात यह है कि तुम अपने साथ बहुत ज़्यादा व्यस्त रहते हो। तुम्हारी अवस्था में मैं हमेशा ऐकान्तिक रूप से अपनी पढ़ाई-लिखाई में लगी रहती थी—चीज़ों को खोजने, सीखने, समझने और जानने में लगी रहती थी। यही मेरा शौक था और यही मेरा व्यसन। मेरी माँ जो हमसे—मुझसे और मेरे भाई से—बहुत ज़्यादा प्यार करती थीं, हमें कभी बदमिज़ाज, असन्तुष्ट या आलसी न होने देती थीं। अगर हम उनसे किसी भी चीज़ की शिकायत करने जाते, या यह कहते कि हम असन्तुष्ट हैं तो वे हमारा मज़ाक उड़ातीं या डाँटतीं और कहतीं, “यह क्या मूर्खता है? हास्यास्पद न बनो। चलो, जल्दी करो! अपने काम में जा लगे, और इसकी परवाह न करो कि तुम ख़ुशमिज़ाज हो या बदमिज़ाज! इसका कोई महत्त्व नहीं है।”

मेरी माँ की बात बिल्कुल ठीक थी और मैं, जो भी काम किया जाये, उस पर एकाग्र होने के द्वारा अपने-आपको भूल जाने की आवश्यकता और अनुशासन सिखाने के लिए उनकी बहुत कृतज्ञ हूँ।

मैंने तुमसे यह बात इसलिए कही है क्योंकि तुम जिस चिन्ता की बात करते हो वह इस कारण आती है कि तुम अपने बारे में बहुत ज़्यादा चिन्तित रहते हो। तुम्हारे लिए कहीं अधिक अच्छा होगा कि तुम ज़्यादा ध्यान इस ओर दो कि तुम क्या कर रहे हो और उसे ज़्यादा अच्छी तरह करो (चित्रकला या संगीत), अपने मन को विकसित करो, जो अभी तक बहुत अधिक असंस्कृत है, और ज्ञानपूर्ण चीज़ें सीखो जो मनुष्य के लिए अनिवार्य हैं—यदि वह अज्ञानी और असंस्कृत नहीं रहना चाहता।

अगर तुम नियमित रूप से रोज़ आठ-नौ घण्टे काम करोगे तो तुम्हें भूख लगेगी और तुम अच्छी तरह खाओगे, तुम्हें नींद आयेगी और तुम शान्ति से सोओगे और तुम्हारे पास यह सोचने के लिए समय न होगा कि तुम ख़ुशमिज़ाज हो या बदमिज़ाज।

मैं ये सब चीज़ें तुमसे अपने पूरे स्नेह के साथ कह रही हूँ और आशा करती हूँ कि तुम इन्हें समझोगे।

तुम्हारी माँ जो तुमसे प्यार करती है।

१५ मई १९३४

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. १२९-३९

श्रीमाँ तथा उनके शरीर-धारण का उद्देश्य

श्रीमाँ कौन हैं ?

आप अपनी पुस्तक “माता” में श्रीमाँ (हमारी माताजी) का ही जिक्र करते हैं न ?

हाँ।

क्या वे “व्यष्टिभावापन्न” भगवती माता ही नहीं हैं जिन्होंने “सत्ता के इन दो विशालतर स्वरूपों की—परात्पर और विश्वगत की—शक्ति को” मूर्तिमान् किया है ?

हाँ, वही हैं।

वे हमारे प्रति अपने गभीर और महान् प्रेम के वश ही यहाँ (हमारे बीच) अन्धकार और मिथ्यात्व, भूल-भ्रान्ति और मृत्यु के अन्दर अवतरित हुई हैं न ?

हाँ।

ऐसे बहुत-से लोग हैं जिनका मत है कि श्रीमाँ मनुष्य थीं पर अब उन्होंने भगवती माता को अपने अन्दर मूर्तिमान् किया है और उनका विश्वास है कि श्रीमाँ की प्रार्थनाएँ इस मत को पुष्ट करती हैं। पर, मेरे मन की धारणा, मेरी अन्तरात्मा का अनुभव यह है कि वे स्वयं भगवती माता ही हैं जिन्होंने अन्धकार, दुःख-कष्ट और अज्ञान का जामा पहनना इसलिए स्वीकार किया है कि वे सफलतापूर्वक हम मनुष्यों को ‘ज्ञान’, ‘सुख’ और ‘आनन्द’ की ओर, तथा परम प्रभु की ओर ले जा सकें।

भगवान् स्वयं मार्ग पर चल कर मनुष्यों को राह दिखाने के लिए मनुष्य का रूप धारण करते हैं और बाहरी मानव-प्रकृति को स्वीकार करते हैं। पर इससे उनका ‘भगवान्’ होना बन्द नहीं हो जाता। यह एक अभिव्यक्ति होती है, बढ़ती हुई भागवत चेतना अपने-आपको प्रकट करती है। यह मनुष्य का भगवान् में बदल जाना नहीं है। श्रीमाँ अपने आन्तर स्वरूप में बचपन में भी मानवत्व से ऊपर थीं। इसलिए ‘बहुत-से लोगों’ का जो उपर्युक्त मत है वह भ्रमात्मक है।

मेरी यह भी धारणा है कि श्रीमाँ की ‘प्रार्थनाएँ’ हम अभीप्सु चैत्य प्राणियों को यह

दिखलाने के लिए लिखी गयी हैं कि भगवान् के सामने किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये।

हाँ।

१७ अगस्त १९३८

श्रीमाँ और अतिमानसिक अवतरण

क्या मेरा यह सोचना ठीक है कि श्रीमाँ एक व्यक्ति के रूप में समस्त भागवत शक्तियों को मूर्तिमान् करती हैं और अधिकाधिक भागवत कृपा को भौतिक स्तर पर उतार लाती हैं...

हाँ।

और उनका मूर्तिमान् होना सम्पूर्ण भौतिक स्तर के लिए परिवर्तित और रूपान्तरित होने का एक सुयोग है?

उनका मूर्तिमान् होना पृथ्वी की चेतना के लिए अपने अन्दर अतिमानस को ग्रहण करने तथा उसे सम्भव बनाने के लिए पहले जो रूपान्तर ज़रूरी है उसे प्राप्त करने का एक सुयोग है। बाद में अतिमानस के द्वारा और भी रूपान्तर साधित होगा, परन्तु सारी पार्थिव चेतना अतिमानसभावापन्न नहीं हो जायेगी—सबसे पहले एक नयी जाति उत्पन्न होगी जो अतिमानस को प्रकट करेगी, जैसे कि मनुष्य मन को अभिव्यक्त करता है।

हम व्यक्तिगत रूप से श्रीमाँ के 'प्रकाश' और 'शक्ति' के प्रति जितना अधिक खुलते हैं उतनी ही अधिक उनकी शक्ति विश्व में प्रतिष्ठित होती जाती है—ऐसा ही होता है न?

वह रूपान्तरकारी शक्ति है जो प्रतिष्ठित होती है—वैश्व 'शक्ति' तो हमेशा विद्यमान रहती है।

१३ अगस्त १९३३

श्रीमाँ धरती पर कार्य करने के लिए उतरी हैं, किसी दूसरे जगत् में नहीं। सहस्रदल कमल तथा वह स्तर या जगत्—जिसकी उनसे तुलना की जाती है या जिनसे उनका सादृश्य दिखाया जाता है—वह केवल 'सत्य' तथा पार्थिव जीवन के बीच सञ्चार का साधन है। लेकिन यह सत्य है कि अगर धरती के कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करना है तो पार्थिव चेतना को उस स्तर तक उठना ही होगा।

१ अक्तूबर १९३३

मैं जानता हूँ कि यहाँ सब कुछ अवास्तविक है। केवल श्रीमाँ ही वास्तविक हैं।

श्रीमाँ उच्चतर वास्तविकता को यहाँ धरती पर उतार लायी हैं—उसके बिना और सब कुछ अज्ञान और मिथ्या है।

३ अगस्त १९३४

श्रीमाँ सीधे ऊपर के अपने लोक से साधक पर कार्य नहीं करतीं, यद्यपि वे यदि ऐसा करना चाहें तो कर सकती हैं—यहाँ तक कि वे संसार को एक ही दिन में अतिमानसभावापन्न भी बना सकती हैं; पर उस हालत में यहाँ रची जाने वाली अतिमानसिक प्रकृति ठीक वैसी होगी जैसी कि वह ऊपर है, न कि अतिमानसिक पृथ्वी की ओर विकसित होती हुई अज्ञानमयी पृथ्वी, एक ऐसी अभिव्यक्ति जो देखने में ठीक वैसी ही नहीं होगी जैसा कि अतिमानस है।

यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण सत्य है।

१७ जून १९३५

उच्चतर स्तरों के साथ श्रीमाँ के सम्बन्ध के महत्त्व को समझने में कुछ लोग एकदम से ग़लत दिशा अपना लेते हैं। जब वे उन स्तरों पर होते हैं या वहाँ से कोई वस्तु प्राप्त करते हैं तो वे यह सोचने लगते हैं कि वे एक महान् ऊँचाई पर पहुँच गये हैं और उच्चतर स्तरों के साथ श्रीमाँ का कोई वास्ता नहीं है। वे श्रीमाँ की अपेक्षा उन स्तरों को ज़्यादा मूल्य देते हैं! विशेषकर अतिमानस के बारे में उनके अन्दर ऐसी अजीब-अजीब धारणाएँ होती हैं—कि वह श्रीमाँ से अधिक महान् कोई वस्तु है।

अगर उनके अन्दर श्रीमाँ से अधिक महान् अनुभव या चेतना है तो उन्हें यहाँ नहीं रहना चाहिये, उन्हें तो बाहर जाकर उसके द्वारा जगत् की रक्षा करनी चाहिये।

१८ सितम्बर १९३५

श्रीमाँ की अभिव्यक्ति और अतिमानसिक अवतरण के बीच क्या कोई अन्तर है?

अतिमानस को उतारने के लिए ही श्रीमाँ आयी हैं और यह अवतरण ही उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति को यहाँ सम्भव बनाता है।

२३ सितम्बर १९३५

क्या पूर्णयोग में यह मनोवृत्ति रखना आवश्यक नहीं है कि 'अहम् ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ?

समस्त प्रकृति को रूपान्तरित करना पर्याप्त नहीं है। अन्यथा अवतार को मूर्तरूप लेने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। तब तो बस अपने-आपको ब्रह्म मान लेने से ही सारा कार्य सम्पन्न हो जाता। तब श्रीमाँ की उपस्थिति या माँ की शक्ति की कोई ज़रूरत ही नहीं होती।

२७ दिसम्बर १९३५

माँ के प्रति श्रीअरविन्द की अभिज्ञता

मेरे ख़याल से २४ नवम्बर १९२६ को श्रीअरविन्द ने यह स्पष्ट अनुभव किया कि श्रीमाँ 'भागवत चेतना' तथा 'शक्ति' हैं।

नहीं। यह बात मुझे बहुत पहले से पता थी।

२ नवम्बर १९३५

श्रीमाँ की शरण में जाना

श्रीमाँ श्रीअरविन्द^१ की शिष्या नहीं हैं। उन्हें मेरे समान ही सिद्धि और अनुभूति प्राप्त थी।

श्रीमाँ की साधना छोटी उम्र से ही आरम्भ हो गयी थी। जब वे १२ या १३ वर्ष की थीं तब प्रत्येक सन्ध्या अनेक गुरु उन्हें विविध आध्यात्मिक साधना सिखाने के लिए आते। उनमें से एक साँवली एशियाई आकृति थी। जब हम पहले पहल मिले, तब उन्होंने तुरन्त साँवली एशियाई आकृति के रूप में मुझे पहचान लिया जिसे वे बहुत पहले देखा करती थीं। श्रीमाँ यहाँ आयें और एक समान लक्ष्य के लिए मेरे साथ कार्य करें, यह मानों एक भागवत विधान था।

भारत आने के पहले ही श्रीमाँ बौद्ध योग और गीता-योग में सिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं। उनका योग एक भव्य समन्वय की ओर बढ़ रहा था। उसके बाद यह स्वाभाविक था कि वे यहाँ आयें। मेरे योग को ठोस रूप देने में वे सहायता कर चुकी हैं और कर रही हैं। उनके सहयोग के बिना यह सम्भव नहीं हो पाता।

इस योग के दो बड़े चरणों में से एक है, श्रीमाँ^२ की शरण में जाना।

१७ अगस्त १९४१

—श्रीअरविन्द

^१ यह पत्र श्रीअरविन्द ने बोल कर लिखवाया था इसलिए वे अपने लिए अन्य पुरुष का प्रयोग कर रहे हैं।—सं.

^२ बाद में एक बार जब श्रीअरविन्द से पूछा गया कि दूसरा कौन-सा है, उन्होंने उत्तर दिया, "भागवत जीवन के लिए साधक की अभीप्सा।"—सं.

“मैं तुम्हारे साथ हूँ”

“मैं तुम्हारे साथ हूँ।” इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

जब हम प्रार्थना करते हैं या किसी समस्या को लेकर अपने अन्दर जूझते हैं, तो क्या हमारे अनाड़ीपन और अपूर्णता के बावजूद, हमारी दुर्भावना और भ्रान्ति के बावजूद हमारी सुनवाई होती है? और कौन सुनता है? आप जो हमारे साथ हैं?

और आप अपनी परम चेतना में, निर्गुण भागवत शक्ति, योग-शक्ति के रूप में या भौतिक चेतना सहित सशरीर माताजी के रूप में? एक व्यक्तिगत उपस्थिति जो वास्तव में प्रत्येक विचार और प्रत्येक क्रिया को जानती है, जो कोई अनाम शक्ति नहीं है? क्या आप हमें यह बतला सकती हैं कि आप हमारे अन्दर कैसे, किस तरह विद्यमान हैं?

कहा जाता है कि आपकी और श्रीअरविन्द की चेतना एक ही है, लेकिन क्या आपकी और श्रीअरविन्द की वैयक्तिक उपस्थिति दो अलग चीज़ें हैं जो अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती हैं?

मैं तुम्हारे साथ हूँ क्योंकि मैं तुम हूँ या तुम मैं हो।

मैं तुम्हारे साथ हूँ, इसके बहुत सारे अर्थ होते हैं, क्योंकि मैं सभी स्तरों पर, सभी भूमिकाओं में, परम चेतना से लेकर अत्यन्त भौतिक चेतना तक तुम्हारे साथ हूँ। यहाँ, पॉण्डिचेरी में, तुम मेरी चेतना को अन्दर लिये बिना श्वास भी नहीं ले सकते। वह सूक्ष्म भौतिक में सारे वातावरण को लगभग भौतिक रूप में भरे हुए है, और यहाँ से दस किलोमीटर दूर झील तक ऐसा है। उसके आगे, मेरी चेतना को भौतिक प्राण में अनुभव किया जा सकता है, उसके बाद मानसिक स्तर पर तथा अन्य उच्चतर स्तरों पर हर जगह। जब मैं यहाँ पहली बार आयी थी तो, मैंने भौतिक रूप से दस किलोमीटर नहीं, दस समुद्री मील की दूरी से श्रीअरविन्द के वातावरण का अनुभव किया था। वह एकदम अचानक, बहुत ठोस रूप में, एक शुद्ध, प्रकाशमय, हलका, ऊपर उठाने वाला वातावरण था।

बहुत समय पहले श्रीअरविन्द ने आश्रम में हर जगह यह अनुस्मारक लगवा दिया था जिसे तुम सब जानते हो: “हमेशा ऐसे व्यवहार करो मानों माताजी तुम्हें देख रही हैं, क्योंकि, वास्तव में, वे हमेशा उपस्थित हैं।”

यह केवल एक वचन नहीं है, कुछ शब्द नहीं हैं, यह एक तथ्य है। मैं तुम्हारे साथ बहुत ठोस रूप में हूँ और जिनमें सूक्ष्म दृष्टि है वे मुझे देख सकते हैं।

सामान्य रीति से मेरी ‘शक्ति’ हर जगह कार्यरत है, वह हमेशा तुम्हारी सत्ता के मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को इधर-उधर हटाती और नये रूप में रखती तथा तुम्हारे सामने तुम्हारी प्रकृति के नये-नये रूपों को निरूपित करती रहती है ताकि तुम देख सको कि क्या-क्या बदलना, विकसित

करना या त्यागना है।

इसके अलावा, मेरे और तुम्हारे बीच एक विशेष सम्बन्ध है, उन सबके साथ जो मेरी और श्रीअरविन्द की शिक्षा की ओर मुड़े हुए हैं—और, यह भली-भाँति जानी हुई बात है कि इसमें दूरी से कोई अन्तर नहीं पड़ता, तुम फ़्रांस में हो सकते हो, दुनिया के दूसरे छोर पर हो सकते हो या पॉण्डिचेरी में, यह सम्बन्ध हमेशा सच्चा और जीवन्त रहता है। और हर बार जब पुकार आती है, हर बार जब इसकी ज़रूरत हो कि मुझे पता लगे ताकि मैं एक शक्ति, एक प्रेरणा या रक्षण या कोई और चीज़ भेजूँ, तो अचानक मेरे पास एक सन्देश-सा आता है और मैं जो ज़रूरी होता है वह कर देती हूँ। यह तो स्पष्ट है कि ये सन्देश मेरे पास किसी भी समय पहुँचते रहते हैं, और तुमने कई बार मुझे अचानक किसी वाक्य या काम के बीच रुकते देखा होगा; यह इसलिए कि कोई चीज़ मेरे पास आती है, कोई सन्देश आता है और मैं एकाग्र हो जाती हूँ।

जिन लोगों को मैंने शिष्य रूप में स्वीकार लिया, जिन्हें “हाँ” कह दी है, उनके साथ सम्बन्ध से बढ़ कर कुछ और होता है, उनके साथ मुझसे निकला कुछ अंश रहता है। जब कभी ज़रूरत हो तो यह अंश मुझे चेतावनी देता है और मुझे बतलाता है कि क्या हो रहा है। वास्तव में मुझे सारे समय सूचनाएँ मिलती रहती हैं, परन्तु मेरी सक्रिय स्मृति में वे सब अंकित नहीं होतीं। तब तो मेरे अन्दर बाढ़ आ जायेगी; भौतिक चेतना फ़िल्टर या छत्रे का काम करती है। चीज़ें एक सूक्ष्म स्तर पर अंकित होती हैं, वे वहाँ अव्यक्त अवस्था में रहती हैं, मानों कोई संगीत ध्वन्यांकित तो कर लिया गया हो पर बजाया न गया हो, और जब मुझे अपनी भौतिक चेतना में कुछ जानने की ज़रूरत होती है, तो मैं इस सूक्ष्म भौतिक स्तर के साथ सम्पर्क जोड़ती हूँ और रेकॉर्ड बजने लगता है। तब मैं देखती हूँ कि चीज़ें कैसी हैं, समय के साथ उनका क्या विकास हुआ और उनका वास्तविक परिणाम क्या है।

और अगर किसी कारण से तुम मुझे चिढ़ी लिखो और मेरी सहायता माँगो और मैं उत्तर दूँ “मैं तुम्हारे साथ हूँ”, तो इसका मतलब यह है कि तुम्हारे साथ की सञ्चार-व्यवस्था सक्रिय हो गयी है, तुम कुछ समय के लिए, जितने समय के लिए ज़रूरी हो, मेरी सक्रिय चेतना में आ जाते हो।

और मेरे और तुम्हारे बीच का यह सम्बन्ध कभी नहीं टूटता। ऐसे लोग हैं जिन्होंने विद्रोह की अवस्था में बहुत पहले आश्रम छोड़ दिया था, और फिर भी मैं उनके बारे में टोह लेती रहती हूँ, उनकी देखभाल करती हूँ। तुम्हें कभी ऐसे ही छोड़ नहीं दिया जाता।

सच तो यह है कि मैं अपने-आपको हर एक के लिए ज़िम्मेदार मानती हूँ, उनके लिए भी जिनसे मैं अपने जीवन में बस निमिषमात्र के लिए ही मिली हूँ।

यहाँ एक बात याद रखो। श्रीअरविन्द और मैं एक ही हैं, एक ही चेतना हैं, एक और अभिन्न व्यक्ति हैं। हाँ, जब यह शक्ति या यह उपस्थिति, जो एक ही है, तुम्हारी वैयक्तिक चेतना में से गुज़रती है, तो वह एक रूप, एक आकार धारण कर लेती है जो तुम्हारे स्वभाव, तुम्हारी

अभीप्सा, तुम्हारी आवश्यकता, तुम्हारी सत्ता के विशेष मोड़ के अनुसार होता है। तुम्हारी वैयक्तिक चेतना, यह कहा जा सकता है, एक छत्रे या एक सूचक की तरह होती है जो अनन्त दिव्य सम्भावनाओं में से एक सम्भावना को चुन कर निश्चित कर लेती है। वस्तुतः भगवान् हर एक व्यक्ति को वही देते हैं जिसकी वह उनसे आशा करता है। अगर तुम यह मानते हो कि भगवान् बहुत दूर और क्रूर हैं, तो वे दूर और क्रूर होंगे, क्योंकि तुम्हारे चरम कल्याण के लिए यह ज़रूरी होगा कि तुम भगवान् के कोप का अनुभव करो; काली के पुजारियों के लिए वे काली होंगे और भक्तों के लिए 'परमानन्द'। और ज्ञानपिपासु के लिए वे 'सर्वज्ञान' होंगे, मायावादियों के लिए परात्पर 'निर्गुण ब्रह्म'; नास्तिक के साथ वे नास्तिक होंगे और प्रेमी के लिए प्रेम। जो उन्हें हर क्षण, हर गति के आन्तरिक निदेशक के रूप में अनुभव करते हैं उनके लिए वे बन्धु और सखा, हमेशा सहायता करने के लिए तैयार, वफ़ादार दोस्त रहेंगे। और अगर तुम यह मानो कि वे सब कुछ मिटा सकते हैं, तो वे तुम्हारे सभी दोषों, तुम्हारी सभी भ्रान्तियों को, बिना थके, मिटा देंगे, और तुम हर क्षण उनकी अनन्त 'कृपा' का अनुभव कर सकोगे। वस्तुतः भगवान् वही हैं जो तुम अपनी गहरी-से-गहरी अभीप्सा में उनसे आशा करते हो।

और जब तुम उस चेतना में प्रवेश करते हो जहाँ तुम सभी चीज़ों को एक ही दृष्टि में देख सको, मनुष्य और भगवान् के बीच सम्बन्धों की अनन्त बहुलता को देख सको, तो तुम देखते हो कि यह सब अपने पूरे विस्तार में कैसा अद्भुत है। अगर तुम मानवजाति के इतिहास को देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि मनुष्य जो समझे हैं, उन्होंने जिसकी इच्छा और आशा की है, जिसका स्वप्न लिया है, उसके अनुसार भगवान् कितने विकसित हुए हैं। वे किस तरह जड़वादी के साथ जड़वादी रहे हैं और हर रोज़ किस तरह बढ़ते जाते हैं और जैसे-जैसे मानव चेतना अपने-आपको विस्तृत करती है वे भी दिन-प्रतिदिन निकटतर और अधिक प्रकाशमान होते जाते हैं। हर एक चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र है। सारे संसार के इतिहास में मनुष्य और भगवान् के सम्बन्ध की इस अनन्त विविधता की पूर्णता एक अकथनीय चमत्कार है। और यह सब मिला कर भगवान् की समग्र अभिव्यक्ति के एक क्षण के समान है।

भगवान् तुम्हारी अभीप्सा के अनुसार तुम्हारे साथ हैं। स्वभावतः, इसका यह अर्थ नहीं है कि वे तुम्हारी बाह्य प्रकृति की सनकों के आगे झुकते हैं—यहाँ मैं तुम्हारी सत्ता के सत्य की बात कह रही हूँ। और फिर भी, कभी-कभी भगवान् अपने-आपको तुम्हारी बाहरी अभीप्सा के अनुसार गढ़ते हैं, और अगर तुम, भक्तों की तरह, बारी-बारी से मिलन और बिछोह में, आनन्द की पुलक और निराशा में रहते हो, तो भगवान् भी तुमसे, तुम्हारी मान्यता के अनुसार, बिछुड़ेंगे और मिलेंगे। इस भाँति मनोभाव, बाहरी मनोभाव भी, बहुत महत्त्वपूर्ण है। लोग यह नहीं जानते कि श्रद्धा कितनी महत्त्वपूर्ण है, कितना बड़ा चमत्कार है, चमत्कारों को जन्म देने वाली है। अगर तुम यह आशा करते हो कि हर क्षण तुम्हें ऊपर उठाया जाये और भगवान् की ओर खींचा जाये, तो वे तुम्हें उठाने आयेंगे और वे बहुत निकट, निकटतर, सदैव निकट होंगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ७५-७९

श्रीमाँ की उपस्थिति

हमेशा ऐसे जियो मानों तुम 'परम प्रभु' तथा 'भगवती माँ' की आँखों के ठीक नीचे हो। ऐसी कोई क्रिया न करो, ऐसी कोई चीज़ सोचने या अनुभव करने की चेष्टा मत करो जो 'भागवत उपस्थिति' के सम्मुख करने-योग्य न हो।

१६ अप्रैल १९३०

*

श्रीमाँ की सतत उपस्थिति अभ्यास के द्वारा आती है; साधना में सफलता पाने के लिए 'भागवत कृपा' अत्यन्त आवश्यक है, पर अभ्यास ही वह चीज़ है जो 'कृपा' के अवतरण के लिए तैयारी करती है।

तुम्हें अन्दर की ओर जाना सीखना होगा, केवल बाहरी चीज़ों में ही रहना बन्द करना होगा, मन को स्थिर करना होगा और अपने अन्दर होने वाली श्रीमाँ की क्रिया के विषय में सचेतन होने की अभीप्सा करनी होगी।

२ जुलाई १९३०

*

यह कोई आवश्यक नियम नहीं है कि सबसे पहले मनुष्य को 'उपस्थिति' का अनुभव प्राप्त करना चाहिये और फिर उसके बाद ही वह यह अनुभव कर सकता है कि वह माँ का है। बल्कि अधिकतर यह होता है कि इस (उनका होने के) अनुभव के बढ़ने से ही वह 'उपस्थिति' आती है। क्योंकि यह अनुभव आता है चैत्य चेतना से और उस चैत्य चेतना के बढ़ जाने से ही अन्त में सतत 'उपस्थिति' का बना रहना सम्भव होता है। यह अनुभव चैत्य पुरुष से आता है और आन्तर सत्ता का जहाँ तक सम्बन्ध है यह सत्य है—इसका अभी तक सम्पूर्ण सत्ता में सिद्ध न हो पाना इसे 'कल्पना' नहीं बना देता—बल्कि इसके विपरीत, जितना ही अधिक यह बढ़ता है उतनी ही अधिक समस्त सत्ता के इस सत्य को चरितार्थ करने की सम्भावना भी बढ़ जाती है। आन्तर भाव बाहरी चेतना के ऊपर अपना अधिकाधिक अधिकार जमाता जाता है और उसे इस तरह फिर से गढ़ता है कि वह यहाँ भी एक सत्य बन जाये। यही है यौगिक रूपान्तर के अन्दर कर्म का अटल सिद्धान्त—जो कुछ सत्य है वह बाहर आ जाता है, और वह मन, हृदय तथा संकल्प-शक्ति पर अपना अधिकार जमा लेता है और उनके द्वारा बाह्य अंगों के अज्ञान के ऊपर विजयी होता तथा वहाँ भी आन्तर सत्य को प्रकट करता है।

१६ सितम्बर १९३६

—श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द के उत्तर

(७१)

आज मेरे अन्दर एक तरह की तटस्थता का भाव था जिसमें मेरी समझ में नहीं आया कि क्या करूँ। मैंने सोचा कि क्या मैं फ्रेंच पढ़ सकता हूँ—उसका उत्तर नीरस इन्कार में मिला। मुझे लगता है कि यह प्राण में शुष्कता का भाव था क्योंकि लोगों के साथ सम्पर्क का उसका आहार बन्द कर दिया गया है। लेकिन अपने अन्दर प्रश्न करने पर ऐसा नहीं लगा कि मुझे सम्पर्क की ज़रूरत थी या मैं उसके लिए उतावला हो रहा था। तब फिर किस चीज़ की आवश्यकता थी? शान्ति की? नहीं, वह तो पहले से वहाँ मौजूद थी। उससे अधिक किसी वस्तु की आवश्यकता थी, लेकिन जिसके बारे में कुछ भी पता नहीं है।

प्राण से अधिक सम्भवतः वह भौतिक चेतना थी जो उस तटस्थ अवस्था की जिम्मेदार थी। ऐसी अवस्था बीच-बीच में प्रायः आया करती है और प्रतीक्षा में रहती है, मानों किसी और चीज़ की आवश्यकता है—सामान्यतया जब किसी नकारात्मक चीज़ से पिण्ड छुड़ाने के लिए कोई प्रगति की जाती है और किसी नयी सकारात्मक प्रगति की ओर बढ़ा जाता है तो ऐसा ही होता है।

‘ज’ की ‘ग’ के साथ बातचीत लाभप्रद नहीं दीखती। ‘ज’ ने उसके सामने एक दीवाल-सी खड़ी कर ली जब कि ‘ग’ उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण आदान-प्रदान चाहता था, हाँ, शायद अपनी वरीयता के सामान्य पुट के साथ! प्रायः सभी चीज़ों में ‘ज’ ने उसका विरोध किया—यहाँ तक कि उसे ‘ग’ का अनुवाद भी बहुत त्रुटिपूर्ण लगा। जब ‘ज’ ने सारी बात मेरे सामने रखी तो मैं भी उसके विचारों की लपेट में आ गया और मैं भी ‘ग’ का प्रायः विरोधी बन बैठा।

विरोध को अपने अन्दर प्रवेश करने देना अच्छा नहीं है। ‘ग’ के अपने दोष हैं और वे सुस्पष्ट हैं, लेकिन उसके हृदय में सत्य का वास है जो एकदम अक्षत है। ‘ज’ अपनी पसन्दों और नापसन्दों में बहुत उग्र है और उस तरह की उग्रता हमेशा अपने-आपको प्रकट कर देती है। ज्यादा अच्छा है कि स्पष्ट और निष्पक्ष दृष्टि से गुण और साथ ही दोषों को देखा जाये। तब, अगर सचमुच कहीं कोई निन्दात्मक वस्तु है और उसकी आलोचना की जाये तब उसका मूल्य भी होता है और वह समर्थनीय भी बन जाती है।

१९ जनवरी १९३५

‘त्र’ ने मुझसे कहा कि वह ‘ड’ के साथ अपने दिवंगत गुरु के बारे में बातचीत करने वाला है। ‘त्र’ ने इसके बारे में आपको जो चिट्ठी लिखी थी उसका कोई उत्तर नहीं आया इसलिए उसने ‘स’ से पूछा कि वह क्या करे। ‘स’ ने उसे सलाह दी कि वह ‘ड’ से कुछ न कहे क्योंकि ‘ड’ का मन सन्देहों से भरा है। फिर ‘त्र’ ने मुझसे पूछा। मैंने उससे कहा कि अपने गुरु के अन्तर्दर्शनों के बारे में ‘ड’ को बताने में कोई हर्ज नहीं है और यह भी हो सकता है कि इससे ‘ड’ के सन्देहों को तोड़ने में थोड़ी-सी सहायता मिल जाये।

मुझे मालूम नहीं कि उस चिट्ठी का क्या हुआ। ‘त्र’ के प्रश्न का मैंने स्वीकारात्मक उत्तर दिया था कि वह अपने गुरु के अन्तर्दर्शनों या अन्तःप्रेरणाओं के बारे में ‘ड’ को बतला सकता है, लेकिन शायद ग़लती से वह चिट्ठी ‘त्र’ को भेजी नहीं गयी या फिर ‘त्र’ ने मेरे लिखे “हाँ” शब्द को नहीं पढ़ा। साधकों के सन्देह सच्चे मानसिक स्तर से नहीं बल्कि अधिकतर प्राण से उठते हैं—जब प्राण ग़लत रास्ता पकड़ लेता है, किसी कठिनाई में पड़ जाता है या अवसाद में डूब जाता है तो सन्देह उठते हैं जो अपने-आपको समान रूप और समान भाषा में दोहराते रहते हैं, भले ही मन को चाहे जितने प्रत्यक्ष प्रमाणों या बौद्धिक उत्तरों के द्वारा मनवा लिया गया हो। यह बात मैंने हमेशा ही देखी है। मन विवेकहीन होता है (तब भी जब वह अपने-आपको न्यायसंगत ठहराने के लिए तर्क का प्रयोग करता है) और वह तर्क के द्वारा नहीं बल्कि अपने मनोभावों के अनुसार किसी चीज़ पर विश्वास या अविश्वास करता है।

दोपहर को बिना किसी स्पष्ट विषय के, मैंने अपने अन्दर एक तरह के कामुक-दबाव का अनुभव करना शुरू कर दिया। वैसे तो किसी भी ऐसे के साथ कोई सम्पर्क नहीं हुआ जिससे इस तरह का संवेदन उठता। मुझे शंका हुई कि इन तीन कारणों में से कोई एक कारण हो सकता है: १. ‘च’ का मेरे समीप बैठने का सपना २. मैंने ‘अ’ को दूर से देखा था और हमने एक-दूसरे को हाथ हिलाया था। इस सम्भावना को सोचते हुए, मुझे तुरन्त उसके प्रति आकर्षण का अनुभव हुआ मानों मैं उसका आलिंगन कर रहा था और कामुक-संवेदन उभर आया; ३. मैं ‘ट’ से बातें कर रहा था और उसने मुझसे स्वप्नदोषों के समय और लय की बात की, जब कि मैंने उससे प्रहारों के समय और लय के बारे में कहा।

शायद तीनों ही चीज़ों ने मिल कर सोयी हुई शक्ति को उत्तेजित करने में योगदान दिया हो, लेकिन वह अपने-आप भी उभर सकती है—कुछ निष्क्रियता के बाद कोई भी शक्ति जग सकती है, क्योंकि यह चीज़ पूरी तरह से व्यक्ति पर निर्भर नहीं करती। यह वैश्व ‘प्रकृति’ की शक्ति है जो अपने स्पन्दनों को प्रकट करने के लिए मानव मार्गों को ढूँढ़ती है और जिस किसी में उसे

प्रत्युत्तर देने की आदत होती है वहाँ, वह प्रवेश कर जाती है। सबसे पहले उस प्रत्युत्तर को स्वीकार करने से पीछा छुड़ाना होगा, उसके बाद स्वयं प्रत्युत्तर से। जब ऐसा कर लिया जाये तो शक्ति अपनी सन्तुष्टि के लिए कहीं और चली जायेगी।

सवेरे पौने ग्यारह बजे मैं 'र' से मिला और उसने मुझसे कहा कि उसे भूख लगी है क्योंकि सुबह से उसने कुछ नहीं खाया। पहले तो मेरी समझ में नहीं आया कि क्या करूँ—मैंने उसके साथ यह सोच कर 'च' के घर जाने की सोची कि शायद उसके यहाँ कुछ हो, लेकिन फिर मैंने सोचा कि वहाँ न जाना ही बेहतर होगा। फिर मैंने निश्चय किया कि 'प' के यहाँ कोशिश करूँ, ज़रा हिचक के साथ मैं उसके कमरे पर गया, झिझक इस वजह से थी कि मैंने इनके कमरों में प्रवेश करना बन्द कर दिया है। वह खाने के लिए कुछ दे पायी और 'र' को आराम मिला। फिर 'र' ने कहा कि आजकल वह चित्रकारी का कोई भी काम नहीं कर पा रहा है और इसलिए कुछ निराश-सा है। मैंने कहा कि शायद आंशिक रूप से ऐसा मौसम के कारण हो। वह मेरे बहुत करीब था, प्रायः मेरा आलिंगन कर रहा था, मैंने उसे सामान्य रूप से प्रत्युत्तर दिया ताकि वह मेरे अन्दर कोई कामुक-संवेदन पैदा न करे। लेकिन आज एक हलका-सा स्पर्श संवेदन को उभारने लगा था, परन्तु मैंने अपने-आपको पीछे खींचे रखा। बाद में—कुछ घण्टे बाद—मैंने आकर्षण का अनुभव किया और कामुक-कल्पनाएँ अन्दर घुस आयीं। 'व' और 'च' के सम्पर्क की यादें फिर जी उठीं, और उसके बाद अपने रिश्तेदारों की यादें उभर आयीं—सब कुछ बड़ा घालमेल था।

स्पष्ट ही, 'र' अच्छे 'मूड' में नहीं था, शायद कामुकता से ग्रस्त, और उसने उस भाग पर अपने स्पन्दनों की छाप डाल दी होगी जो उसे प्रत्युत्तर दिया करते थे। कुछ घण्टों बाद उसका उठना इस बात का संकेत है कि अवचेतना को छू लिया गया—अपने-आपको पीछे खींच लेने की वजह से सतही चेतना बची रही। घालमेल भी अवचेतना से उठती हुई क्रिया का द्योतक है।

२१ जनवरी १९३५

आज आप इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि माँ ने मुझे दूर फेंक दिया। प्रणाम के बाद मैंने अनुभव किया कि मेरी सारी शक्ति और ऊर्जा मन्द पड़ रही हैं और मेरे सिर पर माँ की हथेली के न के बराबर स्पर्श ने मुझे पूरी तरह से तोड़ दिया। मैं बार-बार अपने कमरे में गया ताकि लोग मुझे दौरे में पड़ता हुआ न देखें। रात के खाने के बाद अपने विषाद से बदला लेने के लिए मैं जान-बूझकर दिवास्वप्नों में डूब गया, ख़ास तौर से सेक्स-सम्बन्धी यादों में। मैंने अपनी पत्नी को चिट्ठी

लिखने और यहाँ से बाहर जाकर प्रचण्ड कामुक-जीवन बिताने की बात भी सोची।

यह एकदम से झूठ है कि श्रीमाँ आज तुम्हें दूर धकेल रही थीं। हाँ, ऐसे दिन हो सकते हैं जब वे पूरी तल्लीन हों और इस कारण भौतिक रूप से उनका हाथ क्या कर रहा है इस बारे में अन्यमनस्क-सी हो जायें। लेकिन आज तो वे विशेष रूप से तुम पर ध्यान दे रही थीं और प्रणाम के समय तुम्हारे ऊपर प्रशान्ति, नीरवता और कठिनाई को हटाने के लिए शक्ति का सञ्चार कर रही थीं। अगर उन्होंने अपनी हथेली को ऐसे छुआया तो इसका कारण यही था। इस बारे में कोई भूल नहीं हो सकती क्योंकि आज वे अपनी क्रिया और उसके पीछे के उद्देश्य के बारे में विशेष रूप से सचेतन थीं। हुआ यह होगा कि किसी चीज़ के दबाव ने आकर हस्तक्षेप कर दिया हो और इस तरह तुम्हारे भौतिक मन ने इस सुझाव पर विश्वास कर लिया कि वे तुम्हें अपने से दूर कर रही थीं, कठिनाई को नहीं। यह एक ऐसा सुस्पष्ट उदाहरण है कि साधक कितनी आसानी से ग़लत निष्कर्ष निकाल लेते हैं और यह कि माताजी की क्रिया एकदम से विपरीत क्रिया है। बहुत बार, जब वे लोगों की कठिनाइयों को निकाल बाहर करने में उनकी सहायता के लिए अधिक-से-अधिक एकाग्र हुईं तब लोगों ने उन्हें लिखा, “आज सुबह आप बहुत कठोर और मुझसे नाखुश थीं।” इन ग़लत प्रतिक्रियाओं से बचने का एकमात्र उपाय है, श्रीमाँ पर पूर्ण चैत्य भरोसा रखना, इस विश्वास का होना कि वे जो कुछ कर रही हैं उनके भले के लिए कर रही हैं, उनके विरुद्ध नहीं, भगवती माता की अनुकम्पा के साथ कर रही हैं। तब इस तरह का कुछ नहीं घटेगा। जो ऐसा करते हैं उन्हें उनकी एकाग्रता की पूरी सहायता मिल सकती है, भले अपनी तल्लीनता में श्रीमाँ मस्तक न छुएँ या मुस्कुराये नहीं। यही कारण है कि मैं हमेशा साधकों से यह कहा करता हूँ कि माँ के हाव-भाव या प्रणाम के समय उनकी क्रियाओं के बारे में अपनी व्याख्या न दें—क्योंकि ये व्याख्याएँ हमेशा ग़लत हो सकती हैं और किसी आधारहीन विषाद और प्रहार के लिए दरवाज़ा खोल देती हैं।

कल के धुँधले मौसम में मुझे डर था कि सुस्ती बढ़ जायेगी और उसके फलस्वरूप मन का निरुत्साह कामुक-आवेग को जगा देगा। कुछ हद तक ऐसा हुआ भी, लेकिन मैं एक जगह बैठने की बजाय इधर-से-उधर चलता ही रहा। रात को भी मैंने सोचा कि मुझे जल्दी नहीं सोना चाहिये, बस काम में लगे रहना चाहिये, क्योंकि सुस्ती ज्यादा जोर पकड़ रही थी। जब मौसम शरीर पर इस तरह असर डालता है तो निरर्थक दिवास्वप्नों के जाल में फँस जाना सबसे ज्यादा आसान होता है। या फिर शायद यह कामुक-सुझाव के कारण हो?

मौसम का ऐसा तामसिक असर हो सकता है, लेकिन मेरे ख़याल से, मुख्य रूप से वह सुझाव ही इसका ज़िम्मेवार था। बहरहाल, किसी भी तरीक़े से, तमस् को झाड़ फेंकना एकदम सही है,

क्योंकि सम्भव है कि उसकी उपस्थिति ने सुझाव को ज्यादा असरदार बना दिया हो।

(शिष्य का पत्र अप्राप्य है)

हमें खेद है कि तुमने इतना दुःख झेला। तुम्हें तकलीफ़ देने नहीं, बल्कि तुम्हें मुक्त करने के लिए श्रीमाँ ने दबाव डाला था। तुम्हारे संघर्षों में हमेशा गभीर स्नेह और सहानुभूति के साथ श्रीमाँ ने तुम्हारी सहायता करने की कोशिश की। मुझे विश्वास है कि अपने मन का आराम और शान्ति तुम जल्दी ही दोबारा पा लोगे। मैं तुम्हें सभी सम्भव सहायता देने का प्रयास करूँगा।

२२ जनवरी १९३५

मुझे नहीं लगता कि मैंने कोई भी दुःख भोगा। मेरे प्राण ने अलौगिक रूपों के उन सभी सम्भव भोग-विलासों को पकड़ लिया जिन्हें मैं देख रहा था। वह उनमें रस ले रहा था और मैं उन रूपों को और भी अधिक देखना चाहता था कि 'ज' बाधा के रूप में आ टपका। मेरी इच्छा के विरुद्ध, प्रणाम हेतु जाने के लिए वह मुझे प्रायः घसीट कर, धक्का देकर ले गया। मुझे मालूम है कि मेरे अन्दर प्राण में बदलने के लिए न श्रद्धा है न ही इच्छा। उसने मेरे लिए इतना कष्ट उठाया उसके लिए मुझे उसका कृतज्ञ होना चाहिये। उसका इस तरह इतना बड़ा ख़तरा मोल लेना अभियान से कम न था, लेकिन मैं भला उसके प्रति कृतज्ञ कैसे हो सकता हूँ जब कि सचमुच प्राण में हो रहे मेरे अभियान को उसने ख़राब कर डाला? बहरहाल, वह महानतर अभियानों में ऊपर उठे इसके लिए मेरी शुभ-कामनाएँ उसके साथ हैं, भले यह पत्थर ऊपर उठाया न जा सके।

प्राण का एक हिस्सा बदलाव का प्रतिरोध कर रहा है, वह अपनी पुनरावृत्ति में चाहे जितना ज़िद्दी हो, लेकिन यह मानने का कोई कारण नहीं कि इस वजह से तुम गये-गुजरे हो। इससे कहीं अधिक बुरे और अधिक समय तक टिकने वाले प्रतिरोध भी परिवर्तन के लिए अन्तरात्मा की पुकार के सामने झुक गये हैं।

'ज' और मैं ख़ूब दूर तक पैदल गये और पौने ग्यारह बजे लौटे। हमारी बातचीत अधिकतर 'प' के रवैये और उसकी समझ के बारे में थी। उसने कहा कि 'प' की पहली सूक्ति है, "वह जो मेरा मित्र नहीं है, मेरा शत्रु है।" तो अगर मैं उसके मित्रों के साथ मेल-जोल रखना चाहूँ या उन्हें देख कर मुस्कराऊँ तो वे उसे अपनी विजय मान लेंगे और कहेंगे कि मैं उनकी सहानुभूति चाहता हूँ। अगर यह सच है तो मुझे उनकी सहानुभूति की कोई ज़रूरत नहीं है। आजकल मैं 'म' और 'प' के प्रति स्नेह से भरा रहता हूँ, लेकिन अगर इस बारे में उनकी यही टीका-टिप्पणी है

तो मैं अपने-आपको उनसे दूर करना चाहूँगा। 'ज' का भी यही मानना है। 'प' के बारे में उसकी सोच एकदम स्पष्ट है क्योंकि वह उन्हीं के दल में था। और फिर, चैत्य रूप से 'ज' बहुत आगे बढ़ा हुआ है।

वास्तव में 'ज' बहुत प्रगति कर रहा है। उसकी धारणाएँ और अनुभूतियाँ दोनों ही अधिक प्रदीप्ति और यथार्थता के साथ अधिक स्पष्ट होती जा रही हैं। श्रीमाँ ने एक बार 'प' को गॉल (प्राचीन फ़्रांस का नाम) के मुखिया के रूप में देखा था—गॉल हमेशा युद्धप्रिय जाति रही है; शायद इसीलिए वह जगत् और आश्रम को मित्र और शत्रु में बाँटने पर इतना अधिक ज़ोर देता है। या फिर वह रोमन आदर्श-वाक्य के पक्ष में है, “दब्बू को बख़्शा दो और अहंकारी पर तलवार उठाओ।”

२३ जनवरी १९३५

'प' ने 'ड' से मेरे बारे में कहा, “देखो, यह आदमी अपने-आपको तो सँभाल नहीं पा रहा, लेकिन मेरी आलोचना इस तरह कर रहा है मानों इसने मुझे जान लिया हो।” 'प' की बुद्धिमत्ता की ऊँचाई को मैं कभी समझ नहीं पाया, लेकिन मुझे नहीं लगता कि बिना समझे मैंने उसकी कभी कोई आलोचना की हो, क्योंकि मैं उसे ठीक तरह समझता हूँ। बल्कि वही मुझे या 'ज' को भली-भाँति नहीं समझ पाता। सबसे अजीब बात है उसका यह कहना कि 'ज' ने उसके तम्बू से डेरा उठा लिया है।

यह स्वाभाविक है कि 'प' 'ज' पर नाराज़ हो क्योंकि 'ज' ने उसके प्रभाव को अपने ऊपर से झाड़ फेंका, और इसीलिए वह सच्चे कारणों को न देकर उसके मत्थे दूसरे कारण मढ़ रहा है। इस पर ध्यान देने की कोई ज़रूरत नहीं है।

मैं देख रहा हूँ कि मैं अब तक फ़्रेंच का एक शब्द तक नहीं पढ़ पा रहा। क्या आपको लगता है कि मेरे लिए सारे समय फ़्रेंच पढ़ना वाञ्छनीय नहीं है?

नहीं, यह अच्छा है कि तुम फ़्रेंच का अध्ययन करो।

'ज' और मैं लम्बी सैर के लिए गये और हमने बहुत सारी चीज़ों पर बातचीत की। “ 'ज' गॉल के मुखिया” वाक्यांश पर हँसा और उसे शंका हो रही थी कि क्या वह भी रूसी मुखिया था? मुझे शंका हुई कि क्या मैं इतालवी डाकू था या शिकागो का लुटेरा, या फिर 'ग' क्राकाओ का यहूदी महाजन। बहरहाल, हमारी बातचीत में कुछ गभीरता भी थी और साधना की लाभप्रद बातें भी जिन्हें 'ज' ने अप्रत्यक्ष रूप

में सुझाया: उसने ऊँचे, अधिक ऊँचे उठने की और फिर उतरने की बात कही। लेकिन मुझे शक है कि रूपान्तर की दृष्टि से क्या यह तरीका लाभदायक है या फिर उन लोगों के लिए सम्भव है जो सारा दिन काम में लगे रहते हैं। ऊपर उठने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता होती है और उसके लिए समय भी देना पड़ता है।

ऊँचे और ऊँचे उठ कर उस चीज़ को नीचे उतारना योग का तरीका है; लेकिन इसे पूरे परिणाम के साथ करना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक कि व्यक्ति स्वयं को इतना तैयार न कर ले कि वह अपने मस्तक से ऊपर उठ कर उच्चतर मन के 'स्व' तक न पहुँच जाये। तुम उस बिन्दु तक पहुँच गये थे, लेकिन उसकी पुष्टि न कर पाये, क्योंकि उसके पहले भौतिक चेतना से कठिनाइयाँ ऊपर उठ आयीं। जब तुम उस तक वापस जा सको तब उस गति की नींव डल जायेगी जिसके बारे में 'ज' कह रहा है।

यह बहुत सम्भव है कि तुम मध्ययुग के एक इतालवी कौंदोतिर रह चुके हो (सेना की टुकड़ियों का कप्तान जो उस किसी को अपनी सेवा देने को प्रस्तुत हो जो उसे नियुक्त करे)। वे अभियानप्रिय और उग्र होते थे, लेकिन उनमें से कुछ ऐसे भी थे जो विज्ञान तथा ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक थे। 'ग' के बारे में दिया गया सुझाव रुचिकर है क्योंकि वह अपने पूर्वजन्मों में से किसी में अवश्य यहूदी रह चुका होगा, लेकिन मुझे पता नहीं कहाँ और किन परिस्थितियों में।
२४ जनवरी १९३५

मैं सवरे 'ल' के साथ बातचीत करने गया था। काम की घण्टी बज गयी जो मैंने सुनी नहीं, तो हम बातें करते रहे। दोपहर को भी मैं उसके पास अपनी बातचीत पूरी करने के लिए चला गया। उसने मुझे जो सुझाया वह शायद ही मुझसे कभी हो पाये क्योंकि मेरे अन्दर सेक्स की कठिनाइयाँ अज्ञान की शक्तियों के साथ अपने पूरे जोर और जटिलता के साथ आती हैं। उसने मुझे कई अच्छे सुझाव दिये। विशेषकर यह कि किसी चीज़ को दूसरों के सामने प्रस्तुत करने से पहले हमें अपने अन्दर उसे प्रतिष्ठित करना चाहिये। निस्सन्देह यह एक दुःखद मज़ाक है कि जिस विषय पर मैं कुछ लोगों पर इतनी सफलता के साथ क्रिया कर सकता हूँ उसी समान विषय पर मैं उनसे दसगुना ज़्यादा बार मात खा जाता हूँ।

“दुःखद मज़ाक” की तुम जो बात कर रहे हो वह इस तथ्य से आती है कि मनुष्य एक नहीं, अनेक टुकड़ों से बना है और मानव के प्रत्येक भाग का अपना ही अलग व्यक्तित्व होता है। यह ऐसी चीज़ है जिसे लोग अभी तक पर्याप्त रूप से समझ नहीं पाये हैं—मनोवैज्ञानिकों ने इसकी एक झलक पाना शुरू कर दिया है, लेकिन वे इसे तभी पहचान पाते हैं जब किसी व्यक्ति में दोहरे या अनेक व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप से देखते हैं। लेकिन, वास्तव में, सभी मनुष्य

अनेक व्यक्तित्ववाले ही होते हैं। योग का लक्ष्य होना चाहिये (अगर मनुष्य ने उसे पा नहीं लिया हो) एक प्रबल केन्द्रीय सत्ता और उसके तले बाक्री सबको इकट्ठा कर, उनके बीच सामञ्जस्य बैठाना, जिसे बदलना है उसे बदल देना। अगर यह केन्द्रीय सत्ता चैत्य सत्ता है तब कोई बड़ी कठिनाई नहीं आती। अगर वह मानसिक सत्ता है, यानी, *मनोमय पुरुष प्राण-शरीरनेता*, तो बात अधिक कठिन हो जाती है—जब तक कि मानसिक सत्ता यह नहीं सीख लेती कि उसे हमेशा 'भगवान्' की महान् 'इच्छा' और 'शक्ति' के साथ सम्पर्क साधे रखना और उन्हीं से सहायता ग्रहण करनी है।

२५ जनवरी १९३५

आज सवेरे मैंने बहुत शुष्कता और बेचैनी का अनुभव किया। मैं उसका कारण ढूँढ़ने लगा। इसकी वजह यह रही होगी कि मैं रात के ग्यारह बजे तक घूमता रहा, फिर बारह बजे तक मैंने चिट्ठी लिखी, या यह कि कल रात आठ बजे मैंने 'न' के साथ चाय पी थी। मैंने 'ज' को 'च' के साथ जो हुआ उसके और पिछले कुछ महीनों में घटी कामुक-गतियों के बारे में भी बतलाया। मुझे पता नहीं अगर इस चीज़ ने अलग वातावरण पैदा कर दिया या मेरे अन्दर की स्मृतियों को ताज़ा कर दिया; शायद उन सम्पर्कों को खो देने के भाव को प्राण ने शुष्कता और अकेलेपन में अनूदित कर दिया हो।

बहुत सम्भव है कि ऐसा ही हो। हमेशा ठीक-ठीक कहना आसान नहीं होता क्योंकि इन भावों को उत्पन्न करने में जो क्रिया करता है वह है अवचेतन यान्त्रिक मन या प्राण, और सत्ता का यह हिस्सा अपनी प्रतिक्रिया के कारणों को जानने के लिए सचेतन भाग को अपने विश्वास में नहीं लेता। एक समय आता है जब स्वयं अवचेतन अधिक सचेतन बन जाता है और तब व्यक्ति सब कुछ तुरन्त देख लेता है।

'स' ने मुझसे कहा कि वह 'ब' की फ्रेंच-कक्षा जारी नहीं रख पायी और यह कि वह बहुत कठोर है। उसने मुझसे पूछा कि क्या मैं उसे फ्रेंच के वाक्य देने का कार्य दोबारा शुरू कर सकता हूँ?

जिन्होंने भी उसे सिखलाया, उसे अच्छा विद्यार्थी नहीं पाया—लेकिन इसकी मुख्य वजह थी, अनुशासन और निरन्तर परिश्रम का अभाव। 'ब' की सख्ती के बारे में उसकी आपत्ति उनकी शिकायत को पुष्ट करती है।

(शिष्य के पत्र का अधिकांश अप्राप्य है। उसमें कुछ साधकों को, जो उन्होंने औरों

से सीखा उसे दूसरों के साथ बाँटने की, तो कुछ अन्य साधकों में उसे अपने ही अन्दर रखने की प्रवृत्ति का उल्लेख था।)

मेरे ख़याल से कोई एक नियम सबके ऊपर लागू नहीं किया जा सकता। कुछ हैं जिनके अन्दर प्राण की व्यापक, फैलाने वाली शक्ति होती है तो दूसरों के अन्दर संकेन्द्रणशील। ये दूसरे अपने ही प्रयास की तीव्रता में डूबे रहते हैं और निश्चित रूप से प्रगति के लिए महान् शक्ति जुटाते हैं और इस तरह अपनी ऊर्जा को ख़र्च नहीं करते, उसे बचाये रखते हैं... ये लोग दूसरों की प्रतिक्रियाओं के प्रति भी अपने-आपको अधिक नहीं खोलते (यद्यपि इससे पूरी तरह बचा नहीं जा सकता)। दूसरी तरह के लोगों को—जो कुछ उनके अन्दर होता है—उसे अभिव्यक्त करना ही पड़ता है, क्योंकि वे पूरी पूर्णता पाने तक प्रतीक्षा नहीं कर पाते। वे, जो कुछ उन्हें प्राप्त होता है, उसका उपयोग कर ही लेते हैं। भले प्रगति करने के लिए उन्हें किसी को कुछ देना या किसी से कुछ लेना पड़े। एकमात्र महत्वपूर्ण चीज़ है कि ऐसे लोगों को आदान-प्रदान की दोनों प्रवृत्तियों में तालमेल बिठाना चाहिये, वे अपने दोनों हाथों से जितना बाँटें उतना या उससे अधिक उन्हें ऊपर से प्राप्त करने पर एकाग्रचित्त होना चाहिये।

२६ जनवरी १९३५

जब कोई किसी आसक्ति से मुक्त हो जाये, जैसा कि 'च' के लिए मेरे साथ हुआ, तब चेतना की स्पष्टता एकदम प्रत्यक्ष हो जाती है। आसक्ति के साथ मेरा मन उसी व्यक्ति के बारे में सोचने, उसे अपने अन्दर अनुभव करने, उसकी अवस्था के बारे में कल्पना या उसकी हितैषिता में तल्लीन रहता है। तब वह वास्तव में मेरी चेतना का एक हिस्सा बन जाता है, उसी तरह जैसे जड़भरत के लिए उसका हिरण बन गया था। लेकिन ऐसा 'प' के साथ नहीं होता—जब-जब वह मुश्किल में होती है, मेरी सलाह लेती है या फिर कभी मेरे साथ कुछ समय के लिए पढ़ती है, फिर वह चीज़ मेरे दिमाग़ से एकदम चली जाती है। लेकिन, यहाँ भी एक दोष है। मुझे उसके लिए शाम के ६.३० बजे प्रतीक्षा करनी होती है और प्रतीक्षा की वह प्रक्रिया मेरी चेतना को उसकी ओर ले जाती है, हालाँकि मैं एकदम उदासीन-सा रहता हूँ। लेकिन जब वह दैनिक व्यवहार बन जाता है तब इसमें थोड़ी आसक्ति तो आ ही जाती है, हालाँकि उसमें कोई खिंचाव नहीं होता। आसक्ति की परीक्षा शायद तब होती है जब यह पता चलता है कि सम्पर्क के टूट जाने पर मन और प्राण किस हद तक विक्षुब्ध होते हैं।

हाँ, यही परीक्षा है। लोगों के साथ व्यवहार करते समय हमेशा तुम्हारी चेतना का प्रक्षेप उनकी ओर हो सकता है या फिर उनसे तुम्हारी चेतना में कुछ अन्तर आ सकता है, लेकिन इससे

आसक्ति नहीं आ जाती—उसके लिए किसी और चीज़ की ज़रूरत होती है, सामने वाले व्यक्ति पर तुम्हारे प्राण की पकड़ या फिर तुम्हारे प्राण इत्यादि पर उस व्यक्ति की पकड़।

जब मैं ज़ीने पर था, मेरे अन्दर किसी दिन श्रीमाँ के कमरे देखने की उत्कट लालसा जागी। लेकिन मुझे मालूम नहीं कि ऐसा कभी हो पायेगा, या फिर मैं (जो उस दिन आश्रम से भाग जाने पर आमादा था) इसके योग्य हूँ। या फिर, जैसा कि 'ल' ने सुझाव दिया था कि जब कठिनाई तीव्र हो जाये तब व्यक्ति को यहाँ से भाग जाने के बदले श्रीमाँ के पास जाने की अनुमति माँगनी चाहिये। इसलिए, अगली बार जब मेरे अन्दर यहाँ से चले जाने की इच्छा जागेगी, मैं उसे सम्भवतः श्रीमाँ के सभी कमरों के दर्शन की माँग में बदल दूँगा।

लेकिन श्रीमाँ के पास आन्तरिक कक्षों में आना चाहिये, बाहरी नहीं। क्योंकि आन्तरिक कक्षों में व्यक्ति हमेशा प्रवेश कर सकता है, यहाँ तक कि स्थायी रूप से वहाँ रहने की व्यवस्था तक कर सकता है!

२८ जनवरी १९३५

—श्रीअरविन्द